Chapter. 7

अध्याय : 7

उ प सं हा र

अध्याय : 7

उ प सं हा र

साहित्य मानव-जीवन को मिली हुई वह धरोहर है जिसके रहते वह अतीत की सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं द्वारा संघटित मानव-छवि एवं व्यवहारों का प्रत्याख्यान करते हुए अपने वर्तमान को उसके समग्र रूप से आत्मसात् करता है । इस महार्णव में हम अपने ही भावोच्छ्वासों को तरंगायित होते हुए देख सकते हैं । प्रत्येक युग में उसने अपनी आवश्यकतानुसार नये-नये साहित्य-रूपों को तलाशा-तराशा है । उपन्यास भी एक ऐसा ही रूप है । औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप मानव-जीन में क्षिप्रगामी परिवर्तन आया । विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास तथा नित्य-नवीन खोजों ने परिवर्तन के इस आयाम को और भी तेज़ कर दिया । फलत: युगों से संचित मानव-जीवन एवं व्यवहार की सरलता व ठहराव में एक जोरदार बदलाव आया जिसने उसे अधिक जटिल व पेचीदा बना दिया । उपन्यास इस नये युग-परिवर्तन का परिणाम है । उसका स्वरूप अत्यन्त लचीला है । आधुनिक कहे जानेवाले सभी काव्यरूपों को उसने आत्मसात कर लिया हैं । अन्य काव्यरूपों की तुलना में उसका सरोकार समकालीन जीवन के यथार्थ से अधिक है और यह यथार्थ अनेक विषमताओं एवं विसंगतियों

से अटा - पड़ा है । विषमताएँ और विसंगतियाँ ही व्यंग्य को जन्म देती है । स्वातंत्र्योत्तर युग में और विशेषत: साठोत्तर युग में यह विशेष रूप से परिलक्षित होती है । आचार-विचार, कथनी-करनी, साधन-साध्य के बेतालपने और जीवन-मूल्यों की धराशायिता ने मोहभंग की छवि को और भी गहरा दिया है जिसके कारण व्यंग्य साहित्य की प्रत्येक विधा में आ रहा है, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उपन्यास का सम्बन्ध यथार्थ से अधिक होने के कारण व्यंग्य की सृष्टि उसमें सहज - स्वाभाविक है । प्रस्तुत अध्ययन का विषय यही है । इसमें साठोत्तरी उपन्यासों में आये हुए व्यंग्य को उसके नाना आयामों में विश्लेषित किया गया है ।

साठोत्तरी साहित्य की इधर सविशेष चर्चा हो रही है । साठोत्तरी कविता व कहानी की भाँति साठोत्तरी उपन्यासों ने भी अपनी एक पहचान बनायी है । इसमें काल-विषयक विभावना तो है ही, किन्तु एक विशिष्ट काव्य-मुद्रा एवं चेतना या मानसिकता को भी लक्ष्य किया गया है । अत: साठोत्तरी उपन्यासों में निश्चित रूप से सन् 1960 के बादके उपन्यास आयेंगे, किन्तु यह तथ्य ध्यातव्य रहे कि साठ के बादका प्रत्येक उपन्यास साठोत्तरी संज्ञा के अंतर्गत नहीं आयेगा । साठोत्तरी युगीन - चेतना टूटते - बिखरते जीवन-मूल्यों, टूटते-भहराते मानवीय रिश्तों, बिलखते-सीसकते गाँव-नगर और व्यक्तियों की कसक, पीडा, घुटन से व्याप्त तथा गरीबी, बेकारी, शोषण, भ्रष्टाचार, बौधिक नपुंसकता एवं तकवादिता आदि से आक्रान्त एक मोहभंग की विशिष्ट मुद्रा धारण किए हुए है । अत: साठोत्तरी उपन्यास भी उससे अछूता नहीं है । एक तरफ उसके कथ्य

में उपरिनिर्दिष्ट समकालीन बोध है तो दूसरी तरफ उसमें वैयक्तिक यथार्थवादिता; वस्तु, चरित्र एवं शिल्प के प्रति अरोमानी, निर्मम, निस्संग दृष्टिक्षेप; व्यंग्यात्मकता; प्रयोगशीलता; आधुनिक भावबोध एवं नवीन भाषाभिव्यंजना प्रभृति भी दृष्टिगत होते हैं।

साहित्यकार तो समाज का सजग प्रहरी है, अत: आरम्भ से ही वह "जो हो रहा है" उसकी अपेक्षा "जो होना चाहिए" की ओर अधिक उन्मुख हुआ है। ठीक इसी बिन्दु पर उसका सामना समाजकी विसंगतियों, विषमताओं और विद्रूपताओं से होता है जो उसे व्यंग्य-सृष्टि के लिए निरंतर प्रेरित करता है। अत: यहाँ असंदिग्ध रूपसे कहा जा सकता है कि व्यंग्य का आधार -- कथ्य यथार्थपरक होते हुए भी व्यंग्यकारकी दृष्टि आदर्शवादी होती है। व्यापक दृष्टि से देखने पर संपूर्ण यथार्थवादी साहित्य का एक मात्र लक्ष्य यही निर्धारित होता है। इसीलिए व्यंग्य सोद्देश्य होता है। विकृति, विसंगति, बीभत्स, विद्रूपता, मूर्खता आदि के प्रति उसका दृष्टिकोण आलोचनात्मक होता है। असंगति के प्रति आक्रोश पैदा कर विद्रोह की भूमिका तैयार करना उसका एक लक्ष्य है। अत: उसमें एक सुधारवादी दृष्टिकोण होता है, परन्तु यह दृष्टिकोण व्यंग्य होता है। वस्तुत: व्यंग्यकार, सुधारक तथा उपदेशक तीनों का लक्ष्य एक ही है, और वह है सुधार; किन्तु उनके साधनों में अंतर है। जहाँ सुधारक तथा उपदेशके साधन प्रत्यक्ष, व्याख्यात्मक एवं प्रचारात्मक होते हैं वहाँ व्यंग्यकार के साधन परोक्ष तथा सांकेतिक होते हैं।

हास्य और व्यंग्य में मूलभूत अंतर होते हुए भी वे एक दूसरे के पूरक है क्योंकि दोनों का लक्ष्य अशिव का प्रतिकार एवं शिवत्व की प्रतिष्ठा है । ऐसा व्यंग्य मुश्किल से ही मिलेगा जिसमें हास्य की एक भी रेखा न हो और ऐसा हास्य भी दुर्लभ होगा जिसमें सूक्ष्म ही सही, परोक्ष ही सही पर व्यंग्य की कोई चुभन न हो । वस्तुत: हास्य और व्यंग्य भिन्न-भिन्न होते हुए भी दूध में पानी की भाँति मिले हुए हैं । व्यंग्य के लिए जो प्रश्न न्यायान्याय का है, हास्य के लिए वही सुन्दर असुन्दरका, अत: व्यंग्य पाठक के क्षोभ या क्रोध को जगाकर प्रकारान्तर से उसे अन्याय के खिलाफ़ लड़ने के लिए प्रेरित करता है । यही कारण है कि जहाँ हास्य निर्दोष एवं निर्दंश दिखाता है; वहाँ व्यंग्य में कटुता, तीखापन एवं चोट मिलते हैं । हास्य के किसी आलंबन को इतना पेंटा जाय कि उसके प्रति हमारी संवेदना खत्म हो जाय तब व्यंग्य की सृष्टि होती है । हास्य, उपहास, परिहास, बिट, पैरोडी, प्रहसन, बर्लेस्क आदि अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते है; परन्तु ये सभी परस्पर एक-दूसरे के पूरक है । व्यंग्यमें भी इनका आवश्यकतानुसार प्रयोग होता है। वहाँ वे व्यंग्य के उपादानस्वरूप आते हैं ।

प्रो॰ हरबर्ट जे॰ मूलर के मतानुसार उपन्यास में मानव-अनुभवों की प्रस्तुति एक विशिष्टता के साथ स्वतंत्र (यथार्थ) अथवा आदर्शात्मक दृष्टिकोण से होती है । अत: वह अनिवार्यत: मानव-जीवन पर की गई एक कलात्मक टिप्पणी है । उपन्यास की इस यथार्थधर्मी विशेषता के कारण प्रारम्भ से ही उसका सम्बन्ध व्यंग्य से रहा है । यह एक सुखद संयोग ही

है कि हिन्दी का प्रथम उपन्यास आधुनिक युग की सर्वाधिक ज्वलंत एवं प्रमुख समस्या -- नारी शिक्षा को लेकर लिखा गया । पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी की गद्यशैली में व्यंग्य प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होता है क्योंकि आर्यसमाजी पंडित सनातनधर्मियों तथा अन्य मतावलम्बियों के साथ वाद-विवाद करते समय बड़ी जोरदार व्यंग्यपूर्ण भाषा का उपयोग करते थे । भारतेन्दुयुग के अन्य लेखक भी सरकार की आलोचना के लिए हास्य और व्यंग्य का सहारा लेते थे, अत: व्यंग्यात्मकता उनकी गद्यशैली की एक विशेषता हो गई थी । अत: इन शैलीकारों ने जब उपन्यासों का प्रणयन किया, तब उनमें यह व्यंग्यात्मकता संक्रमित हो गई । अत: प्रेमचन्द-पूर्व काल में बालकृष्ण भट्ट, मन्नन द्विवेदी, मेहता लज्जाराम शर्मा प्रभृति में व्यंग्य की प्रवृत्ति स्पष्टतया परिलक्षित होती है । प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द-स्कूल के उपन्यासकारों में भी व्यंग्य प्रभूत मात्रा में मिलता है । प्रेमचन्द के सभी उपन्यास एक व्यंग्यात्मक-मुद्रा लिए हुए है, अत: उनके उपन्यासों में अनेक व्यंग्योक्तियाँ उपलब्ध होती हैं । यह व्यंग्योक्तियाँ कहीं लेखकीय विश्लेषण के रूपमें आयी हैं तो कहीं पात्रों के माध्यम से व्यक्त हुई हैं । पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र", ऋषभचरण जैन, जयशंकर प्रसाद, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक", प्रभृति के उपन्यासों में भी व्यंग्य मिलता है ।

प्रेमचन्दोत्तर काल के साठ-पूर्व उपन्यासों में "फागुन के दिन चार" (उग्र); "गर्म राख" और "गिरती दीवारें" (उपेन्द्रनाथ अश्क); "महाकाल" और "बूंद और समुद" (अमृतलाल नागर); "गोली" (चतुरसेन शास्त्री); "चोटी की पकड़" "कुल्ली भाट" और "बिल्लेसुर बकरिहा" (निराला); "लोहे के

प्रश्न" §हिमांशु श्रीवास्तव§; "दादा कामरेड", "पार्टी कामरेड", "मनुष्य के रूप", "झूठा सच" §यशपाल§; "बलचनमा", "कुंभीपाक" §नागार्जुन§; "विषादमठ", "हजूर", "सीधा सादा रास्ता" §रांगेय राघव§:, "खाली कुर्सी की आत्मा §लक्ष्मीकांत वर्मा§; "सूरज का सातवाँ घोडा", §धर्मवीर भारती§; "मैला आँचल" और "परती परिकथा" §फणीश्वरनाथ रेणु§ प्रभृति उपन्यासों में बालकृष्ण भट्ट, मन्नन द्विवेदी एवं प्रेमचन्द्र द्वारा विकसित एवं संवर्द्धित व्यंग्यात्मकता की यह परम्परा परिलक्षित हो सकती है ।

साठोत्तरी उपन्यासों में कुछ उपन्यास तो सांगोपांग व्यंग्यात्मक है । "राग दरबारी" उसमेंप्रमुख है । एक तरह से इसे व्यंग्यात्मक उपन्यासों का प्रतिमान माना जा सकता है । "कथा"सूर्य की नयी यात्रा", "एक चूहे की मौत", "किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई", "रानी नागफनी की कहानी", "जंगल तंत्रम्", "मुरदाघर", "नेताजी कहिन", "कुरु कुरु स्वाहा", "महाभोज", "धरती धन न अपना", "सूखता हुआ तालाब" प्रभृति उपन्यासों की गणना हम इस कोटि में कर सकते हैं । यहाँ कतिपय ऐसे भी उपन्यास हैं जिनमें व्यंग्यात्मकता एक "मुख्य टोन" के रूप में आयी है । "आधा गाँव", "टोपी शुक्ला", "जुलूस", "कांचघर", "तमस", "उग्रतारा", "अठारह सूरज के पौधे", "गोबर गणेश", "अपना मोर्चा", "टूटते-बिखरते लोग" प्रभृति ऐसे उपन्यास हैं । इनके उपरान्त लगभग सभी साठोत्तरी उपन्यासों में व्यंग्य कहीं-न-कहीं मिलता है क्योंकि इसकी समग्र युग चेतना सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विसंगतियों एवं विद्रूपताओं से भयंकर रूप से आक्रान्त है । जीवन के तमाम क्षेत्रों में व्याप्त

काली नागिन-सी राजनीति, भ्रष्टाचार, वस्तु केन्द्रित स्वार्थान्ध चिंतन, नैतिक मूल्यों का घोर अवमूल्यन, नारी शोषण के नये कोण, बढ़ती हुई अहंवादिता, टूटते दाम्पत्य, टूटते-बिखरते नगर-ग्राम-मनुष्य जैसी स्थितियाँ आज के व्यंग्यकार को कुछ लिखने के लिए उकसा रही हैं ।

उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र है । अत: उसकी यथार्थता एवं सार्थकता इस बात पर निर्भर है कि उपन्यासकार कितने सशक्त एवं सप्राण चरित्रों को उनके सही रूपमें रख पाता है । किन्तु व्यंग्यात्मक उपन्यासों के चरित्रों की सृष्टि लेखक साम्प्रतिक जीवनकी विषमता और विसंगतिपूर्ण स्थितियों के बीच से करता है, अत: यहाँ उसका लक्ष्य चरित्र-निर्माण की ओर कम चरित्रोद्घाटन की ओर अधिक प्रवृत्त होता है । वह समाज के बहु रूपिये हिपोक्रेट पात्रों को expose करता है । जैसे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में उपन्यासकार का लक्ष्य मनोवैज्ञानिक स्थितियों का विश्लेषण होता है, उसी प्रकार यहाँ उसका लक्ष्य व्यंग्यात्मक स्थितियों का चित्रण है । अत: अपने लक्ष्य के अनुरूप चरित्रों का वह चयन करता है । यही कारण है कि व्यंग्यात्मक उपन्यासों के चरित्र एक विशिष्ट बँधी-बँधायी मुद्रा को लेकर अवतरित होते हैं । मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार की तुलना में लेखक यहाँ अधिक मुखर होता है । यह प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक विधिका भी भरपूर प्रयोग करता है । किन्तु एक बात की ओर लेखक का ध्यान अवश्य रहना चाहिए कि पात्र व्यंग्यात्मक होते हुए भी अवास्तविक नहीं लगना चाहिए, अन्यथा व्यंग्य की चोट ही खत्म हो जायेगी ।

चरित्र और परिवेश परस्पराश्रित है । चरित्र परिवेश का निर्माण करते हैं और परिवेश की यथार्थता चरित्रों की विश्वसनीयता में वृद्धि करती है । अस्तु, व्यंग्यात्मक उपन्यासों का परिवेश भी व्यंग्यात्मक होता है । ऐसे परिवेश की सृष्टि के लिए लेखक व्यंग्यात्मक क्षणों को टोहता है । एतदर्थ भाषा से भी वह खूब काम लेता है । हमारे समाज, धर्म, राजनीति, शिक्षाजगत, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक जगत में जहाँ-जहाँ उसे कुछ अखरता है, अपनी प्रतिभा की उँगली वह वहाँ रख देता है ।

व्यंग्यात्मक उपन्यासों का शिल्प भी उनके अभिष्ट के अनुरूप होता है । फन्टासी, पूर्वदीप्ति, शब्दसहस्मृति, कथा की बहुस्तरीयता जैसे शिल्प के नये आयाम उसमें दृष्टिगोचर होते हैं । उनमें आनेवाली प्रासंगिक कथाएँ भी व्यंग्य के उदेश्य को ध्यान में रखकर कही जाती है । यह एक सुविदित तथ्य है कि उपन्यास भाषा की कला है -- बोली जानेवाली भाषा की कला, और यह भाषा सुनकर ही सीखी जा सकती है । यही कारण है कि राल्फ फोक्स महोदयने उपन्यास के गद्य को मानव-जीवन का गद्य कहा है । अत: जिस उपन्यासकार का जीवन्त लोगों से, अपने समाज से, अपनी जमीन से जितना ही ज्यादा सम्पर्क होगा, वह उतना ही बड़ा लेखक - शैलिकार होगा । प्रेमचन्द, रेणु, पन्नालाल पटेल, ताराशंकर बंदोपाध्याय, शिवशंकर पिल्लै प्रभृति ऐसे ही लेखक हैं । ये लेखक अपने चरित्रों का निर्माण आले पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं करते, यह दुनिया ही उनके लिए एक बहुत बड़ी किताब है । अत: उनके पात्रों की भाषा भी पुस्तकिया नहीं, जीवन की भाषा होती है । अपने आँख और कान साबूत रखकर ये चलते हैं । तात्पर्य यह कि उपन्यास की भाषिक-संरचना अपने

चरित्र एवं परिवेश के अनुकूल होनी चाहिए और चूंकि व्यंग्यात्मक उपन्यासों के चरित्र एवं परिवेश व्यंग्यात्मक छवि से युक्त होते हैं, उनकी भाषा में भी वैसी ही व्यंग्यात्मकता पाई जायेगी । उसमें प्रयुक्त शब्द, विशेषण, रूपक, उपमान, कहावत, मुहावरें, उद्धरण आदि सभी व्यंग्यात्मक होंगे ।

यद्यपि उपन्यास में हमारे साम्प्रतिक जीवन की अनेक विसंगतियां व्यंग्य के रूप में उद्घाटित हुई हैं, तथापि हमारे सामायिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक जगतकी कुछ विसंगतियाँ अभी पूर्णतया उद्घाटित नहीं हुई हैं । आंतरज्ञातीय विवाह, तत्सम्बन्धी समाज के महाधीश एवं पुलिस की सांठ-गांठ, धर्म एवं राजनीतिका गठबन्धन, कन्या-विक्रय, दहेज न लाती या कम लाती लड़कियों पर होने वाले अत्याचार, आरक्षण की समस्या, आरक्षण के बावजूद उसके लाभों से वंचित रखने हेतु प्रयोजित हथकंडे, ड्रग-स्मगलिंग , कौमी दंगे, इन दोनो के साथ राजनीति का गठबंधन, स्कूलों-कॉलेजों-विश्वविद्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार, शिक्षाकी असमाजवादी नीति, संस्कृति के नाम पर होने वाले खेल - तमाशे जैसे विषयों पर अभी कम लिखा गया है । आशा है आगामी वर्षों के औपन्यासिक लेखन में यह कमी पूरी होगी ।

मेरे शोध-विषय की अपनी सीमाएँ हैं । यदि ज्ञान व चिंतन की दिशा में अग्रसर होने के लिए यह प्रयास अपना किंचित् मात्र योग भी दे सका तो मेरे लिए उसकी सार्थकता बढ़ जायेगी । व्यंग्य पर काफी काम हुआ है, परन्तु अभी भी उसके कतिपय पक्षों को लेकर शोधकार्य हो सकता है । प्रेमचन्द, रेणु, नागार्जुन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, यशपाल, मनोहरश्याम जोशी, शैलेश मटियानी जैसे गद्यकारों की शैली में जो व्यंग्य है उस पर

अलग से कार्य हो सकता है । हिन्दी के प्रसिद्ध व्यंग्य-लेखकों को लेकर भी ऐसा कार्य हो सकता है । अलग अलग विधाओं में व्यंग्य-लेखन को लेकर भी शोध-कार्य संभव है ।

अन्तत: निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि साठोत्तरी उपन्यासों में हमारे सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिवेश की नाना विसंगतियों को लक्ष्य करके व्यंग्य किया गया है । जिन्दगी की सम्भावनाओं को सकारते हुए जहाँ आत्म-पीड़ा, दर्द, संघर्ष, सामाजिक वैषम्य के प्रति आक्रोश आदि से व्यंग्य स्वयम् रूप से प्रकट हुआ है वहाँ उसकी कलागत श्रेष्ठता को कोई नकार नहीं सकता; परन्तु जहाँ केवल चटखारे लेने के लिए नकारात्मक ढंग से फूहड सपाट व्यंग्य आया है वहाँ उसने एक और विसंगति में वृद्धि मात्र ही की है ।

. . . . . .